

याददाशत के जाल से मुक्त कर्म ही है जो हर पल क्रांतिकारी है। एक विचार निरंतर, प्रतिक्षण घटित हो रही क्रांति नहीं ला सकता, क्योंकि वह हमेशा अपनी पृष्ठभूमि के संस्कारों के अनुसार कर्म को बदल देता है।

जे. कृष्णमूर्ति

जे. कृष्णमूर्ति परिसंवाद

वर्ष : ६ अंक : ३ मार्च २०१२

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, वाराणसी की त्रैमासिक हिंदी पत्रिका
सितंबर, दिसंबर, मार्च एवं जून में प्रकाशित

वार्षिक शुल्क : रु. १००.००
दो वर्ष : रु. १७५.००
पांच वर्ष के लिए : रु. ४००.००
आजीवन : रु. १०००.००

संपादक : विजय छाबड़ा

इस अंक में :

पृष्ठ संख्या
जे. कृष्णमूर्ति : पांचवीं वार्ता, बंगलूरु, १ अगस्त, १९४८ ४

द्विभाषी उद्धरण बीच के पन्ने

खंड दो
सूचना २७

अनुवाद : निधि पंत

इस अंक में विशेष : द्विभाषी पन्ने पर आप अंग्रेजी मूल के साथ संस्कृत
अनुवाद पायेंगे।

२ • जे. कृष्णमूर्ति परिसंवाद

संपादकीय

दुनिया में, समाज में बुनियादी बदलाव की ज़रूरत का एहसास तो बहुतों को होता है पर इसकी शुरूआत मेरे और आपके आपसी संबंधों में रूपांतरण से होनी है इस बारे में अपने अंतःस्तल में हम कितने स्पष्ट हैं, मालूम नहीं, क्योंकि समाज वहां जितना बाहर है, उतना ही यहां भीतर है, विशेषकर वह मौजूद है आपके और मेरे बीच व्यवहार और आदान-प्रदान में।

बात इसी में मौलिक परिवर्तन की है, सतही फेरबदल का खेल तो प्राचीन है, वही तो हम खेलते आ रहे हैं।

विचार, जो अतीत में, याददाश्त में जड़ें जमाए रहते हैं—सीमाबद्ध, संस्कारबद्ध, भला कैसे आमूलचूल परिवर्तन का आरोह कर पायेंगे? ऐसा कर्म जो सहज हो, सटीक हो, सृजनशील हो, जो जीवन के सुर-नाद को रूपांतरित करता चला जाये, विचार पर तो आधारित नहीं हो सकता। या हो सकता है?

तब क्या विचार द्वारा निर्मित 'जो है' से पलायन के सभी रास्तों का निषेध करना होगा? क्योंकि वे सभी गलत हैं, मिथ्या हैं?

**जे. कृष्णमूर्ति : पांचवीं वार्ता,
बंगलूरु, १ अगस्त, १९४८**

पिछली दो वार्ताओं में हमने व्यक्तिगत कर्म के महत्त्व पर विचार किया, जो कि सामूहिक कर्म का विपरीत नहीं है। व्यक्ति ही संसार है। वह समूची प्रक्रिया का कारण और परिणाम दोनों ही है और व्यक्ति में मूलभूत परिवर्तन हुए बिना दुनिया में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकता। इसलिए सवाल व्यक्तिगत कर्म बनाम सामूहिक कर्म का नहीं है बल्कि यह समझना आवश्यक है कि वास्तविक सामूहिक कर्म सिर्फ व्यक्तिगत पुनरुद्धार के माध्यम से ही आ सकता है। उस व्यक्तिगत कर्म को समझना ज़रूरी है जो समूह के विपरीत नहीं है क्योंकि, अंततः, व्यक्ति अर्थात् आप और आपके आस-पास के लोग ही एक व्यवस्था को बनाते हैं; व्यक्ति कोई अलग-थलग प्रक्रिया नहीं है। भले ही आप जलवायु, धर्म और समाज द्वारा ढाले गए हैं, आप जो हैं उसमें इन सब का योगदान है, फिर भी कुल मिलाकर आप पूरी मानवजाति की उत्पत्ति हैं, समष्टि की रचना हैं। आप मानव की समग्र प्रक्रिया के प्रतिनिधि हैं, और इसलिए जब आप अपने आप को समग्रता में, एक समग्र प्रक्रिया के तौर पर, देख-समझ लेते हैं—न कि एक ऐसी अलग-थलग प्रक्रिया के तौर पर जो कि जनसमूह या समूह के विपरीत है—तब स्वयं में उस समझ द्वारा एक आमूलचूल परिवर्तन हो सकता है। पिछली दो मुलाकातों में हम यही बातें कर रहे थे।

अब कर्म से, ऐक्शन से हमारा क्या तात्पर्य है? बेशक कर्म का मतलब है व्यवहार जो किसी न किसी चीज़ से जुड़ा है, किसी

न किसी संदर्भ में है। कर्म का स्वयं में कोई अस्तित्व नहीं है; उसका अस्तित्व सिर्फ एक धारणा, व्यक्ति या वस्तु के संदर्भ में ही हो सकता है। और हमें कर्म को समझना है, क्योंकि इस समय दुनिया में कुछ तो होना बेहद ज़रूरी है, हर जगह इसकी चीख-पुकार सुनाई दे रही है। हम सभी ऐक्शन के इच्छुक हैं, सभी, क्या करना है यह जानना चाहते हैं, विशेष रूप से अब, जब दुनिया इस अस्तव्यस्तता के दौर से गुज़र रही है, जब इतने दुःख हैं, इतनी अव्यवस्था है, युद्ध आसन्न हैं, विचारधाराएं विध्वंसकारी बल से एक दूसरे का विरोध कर रही हैं और धर्म संस्थाएं इंसान को इंसान के विरुद्ध भड़का रही हैं। इसलिए, हमें यह जानना ज़रूरी है कि हमारा कर्म से क्या तात्पर्य है। और तब कर्म के सार को समझते हुए शायद हम सही मायने में कर्म-व्यवहार कर पाएंगे।

यह समझने के लिए कि हमारा कर्म—जो कि व्यवहार है, आचरण है, और आचरण का अर्थ है सदाचार, सत्यपरायणता—उस कर्म से हमारा क्या तात्पर्य है, हमें उसकी चर्चा निषेधात्मक ढंग से शुरू करनी होगी। अर्थात् परेशानी को सुलझाने का कोई भी विध्यात्मक तरीका (पोज़िटिव ऐप्रोच) ज़रूरतन एक खास पैटर्न के आधार पर होता है; और जो कर्म किसी पैटर्न को, किसी लीक को आधार मानता है वह कर्म नहीं है—वह मात्र नकल है, किसी रूढ़ि पर चलना है, और इसलिए उसे कर्म नहीं कहा जा सकता। कर्म, आचरण, जो कि सदाचार है, सही व्यवहार है, को समझने के लिए हमें सही दृष्टिकोण चाहिए, हमें उसकी खोज करनी होगी। हमें सबसे पहले यह समझना ज़रूरी है कि कोई भी विध्यात्मक तरीका, जो कर्म को एक उदाहरण, निष्कर्ष या धारणा के सांचे में ढालना चाहता है वह कर्म नहीं है; वह तो लीक को, पैटर्न को निरंतरता प्रदान करता है, और

इसलिए कर्म बिलकुल ही नहीं है। अतः कर्म को समझने के लिए हमें उसे निषेधात्मक तरीके (निगेटिव ऐप्रोच) से समझना होगा अर्थात् हमें विध्यात्मक कर्म की, तथाकथित सकारात्मक कर्म की झूठी प्रक्रिया को समझना होगा। क्योंकि जब मैं झूठ को झूठ की तरह पहचान पाता हूँ, और सच को सच की तरह, तब झूठ विसर्जित हो जाता है और मैं कर्म कर पाता हूँ। अर्थात् जब मुझे पता लग जाता है कि झूठा कर्म, अनैतिक कर्म, वह कर्म जो कि मात्र लीक को, ढर्रे को निरंतरता प्रदान करता है, क्या होता है, तब उस कर्म के मिथ्यापन को देखकर मुझे सही मायने में कर्म-व्यवहार करना आ जाता है।

यह स्पष्ट है कि हमें रोज़मर्रा के जीवन में, अपने सामाजिक ढांचे में, अपने राजनैतिक और धार्मिक जीवन में, मूल्यों के एक आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता है, एक संपूर्ण क्रांति की आवश्यकता है। मेरे ख्याल से यह साफ है कि बदलाव ज़रूरी है—या बेहतर होगा कहना कि बदलाव नहीं, जो कि उसी निरंतरता का एक और प्रतीक है, बल्कि ज़रूरत है एक आमूलचूल परिवर्तन की। बुनियादी बदलाव होना ज़रूरी है, हमारे संबंधों में, जीवन के हर पहलू में, एक संपूर्ण क्रांति—राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक—आवश्यक है। क्योंकि माहौल का इसी रूप में जारी रहना और मुमकिन नहीं है—किसी भी सतर्क और दीन-दुनिया की ख़बर रखने वाले विचारशील व्यक्ति के लिए यह बात स्वतःसिद्ध है। अब इस क्रांति को लाया कैसे जाए—एक्शन में, कैसे कार्यान्वित किया जाए? उसी की हम चर्चा कर रहे हैं। ऐसा कर्म जो कि समय आने पर नहीं, बल्कि अभी तुरंत बदलाव लाए, यह कैसे संभव हो? इसी विषय पर हम विचार-विमर्श कर रहे हैं। क्योंकि इतना दुःख है, यहां बंगलूरु में भी और दुनिया की बाकी जगहों में भी; आर्थिक मंदी है, गंदगी, गरीबी, बेरोज़गारी,

सामूहिक संघर्ष इत्यादि के साथ-साथ यूरोप में युद्ध की भी लगातार आशंका बनी हुई है। मूल्यों में मूलभूत परिवर्तन निहायत ज़रूरी है, क्या आपको नहीं लगता? तार्किक-सैद्धांतिक चर्चा की बात नहीं कर रहे, क्योंकि मात्र शब्दों में उलझना व्यर्थ है, उसके कोई मायने नहीं हैं। यह किसी भूखे इंसान के सामने खाने की चर्चा करने समान है। इसलिए हम सिर्फ औपचारिक तौर पर बातें नहीं करेंगे, और कृपया किसी खेल के दर्शकों के समान मत बर्ताव कीजिएगा। चलिए, हम साथ-साथ इसका अनुभव करें जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं; क्योंकि शायद अनुभव करते-करते हम समझ पाएं, सीख पाएं, और यही हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव छोड़ेगा और तभी कायापलट हो पाएगा। इसलिए कृपया फुटबॉल देखने आए दर्शकों के समान मत बर्ताव कीजिए। आप और मैं साथ में मिलकर कर्म-व्यवहार क्या है इसकी छानबीन करेंगे, क्योंकि उसी से हमारा प्रतिदिन अपने जीवन में वास्ता रहता है। अगर हम इस कर्म-व्यवहार के मूल भाव को समझ पाते हैं, तब वह अशांति की, असंतोष की भावना हमारी सामान्य गतिविधियों पर भी प्रभाव डाल पाएगी। लेकिन पहले ज़रूरी है कि हम कर्म-व्यवहार के मूल भाव को समझें, ऐक्शन है क्या इसकी गहराई में जाएं।

अब क्या कर्म एक विचार की देन है? क्या आपको विचार पहले आता है, और फिर बाद में आप कर्म करते हैं? या कि पहले कर्म आता है और फिर, क्योंकि कर्म द्वंद्व उत्पन्न करता है, आप उसके चारों तरफ एक विचार खड़ा कर देते हैं? अर्थात्, क्या कर्म कर्ता का निर्माण करता है या कर्ता पहले आता है? यह कोई दार्शनिक अटकलबाजी नहीं है, यह शास्त्रों, भगवद्गीता या किसी और किताब पर आधारित नहीं है। उन सब का यहां कोई मतलब नहीं है। मैंने इनमें से कोई किताब नहीं पढ़ी है, इसलिए

हममें से कोई भी जो दूसरे लोग कहते हैं उसे प्रस्तुत नहीं करेगा, क्योंकि आप जीत जाएंगे। हम सीधे यह जानने की कोशिश कर रहे हैं कि क्या पहले कर्म आता है और बाद में विचार; या फिर विचार पहले आता है और कर्म उसके पीछे? यह खोज निकालना बहुत ज़रूरी है कि पहले क्या आता है। अगर पहले विचार आता है तो कर्म विचार के अनुरूप चलता है, और इसलिए वह तो कर्म रहा ही नहीं, बल्कि एक धारणा की नकल है, उसका ज़ोर-दबाव है। यह समझना बहुत ज़रूरी है; क्योंकि हमारा समाज अधिकांश रूप से बौद्धिक या मौखिक स्तर पर बना हुआ है, हम सभी को पहले विचार आता है और फिर कर्म का बोध होता है। तब कर्म का मक़सद विचार को संभालना है, और विचारों का घेरा खड़ा करना कर्म-व्यवहार में अहितकर है, रुकावट है। अर्थात् विचार और अधिक विचारों को उत्पन्न करते हैं, और जब केवल विचारों की उत्पत्ति होती है, तब शत्रुता फैलती है और दुनिया विचारों की बौद्धिक प्रक्रिया के बोझ तले झुक-दब जाती है। हमारा सामाजिक ढांचा बहुत बौद्धिक है, हम बुद्धि को अपने अस्तित्व के बाकी अंशों के मुकाबले बहुत ज़्यादा विकसित कर रहे हैं, और इसलिए हमारा विचारों के कारण दम घुट रहा है।

यह सब काफी हद तक गूढ़, सैद्धांतिक, पांडित्यपूर्ण, प्राध्यापकीय लग सकता है पर ऐसा है नहीं। व्यक्तिगत रूप से मुझे विद्वत्तापूर्ण चर्चा से, बौद्धिक अटकलों से डर लगता है, क्योंकि वे दिशाहीन होती हैं। पर यह बहुत ज़रूरी है कि हम खोजें कि हमारा किसी भी विचार से क्या तात्पर्य है, क्योंकि दुनिया अपने आप को विरोधी विचारधाराओं के कारण बांट रही है, वामपंथी बनाम दक्षिणपंथी, साम्यवादी बनाम पूंजीवादी; और बिना विचारणा की पूरी प्रक्रिया को समझे किसी भी पक्ष का

महज़ समर्थन करना बचकाना है, उसके कोई मायने नहीं हैं। एक परिपक्व इंसान पक्षपात नहीं करता; वह सीधे मानवजाति की पीड़ा, भुखमरी, युद्ध इत्यादि समस्याओं को सुलझाने की कोशिश करता है। हम तभी पक्षपात करते हैं जब बुद्धि, जिसका काम विचारों को गढ़ना है, हमें किसी सांचे में ढाल लेती है। तो यह बहुत ज़रूरी है स्वयं के लिए खोजना, न कि मार्क्स, किसी शास्त्र, भगवद्गीता, या किसी के भी अनुसार चलना। आपको और मुझे पता लगाना है, क्योंकि यह हमारी समस्या है; यह खोज निकालना हमारे लिए रोज़ की समस्या है कि हमारी पीड़ित सभ्यता के लिए सही दिशा क्या है, सही समाधान क्या है।

अब, क्या धारणाएं कभी कर्म को अंजाम दे सकती हैं, या कि विचार सोच को सिर्फ सांचे में ढालने का काम करते हैं और इसलिए कर्म को सीमित कर देते हैं? जब कर्म विचार के दबाव में होता है तब कर्म इंसान को कभी मुक्ति नहीं दिला सकता। कृपया ध्यान दें, इस मुद्दे को समझना बहुत ज़रूरी है। अगर कोई विचार कर्म को आकार देता है, तो वह कर्म हमारे दुःखों को मिटाने के लिए कोई हल नहीं दे सकता। क्योंकि इससे पहले कि विचार को कार्यान्वित किया जाए, हमें यह खोजना होगा कि विचार उत्पन्न होता कैसे है। चाहे वह समाजवादियों, पूंजीपतियों, साम्यवादियों, या विविध धर्मों का हो, विचारों के उभरने-उपजने की प्रक्रिया की खोजबीन सबसे ज़रूरी है। खास तौर पर तब जब हमारा समाज एक कठिन दौर से गुज़र रहा है, एक और विपदा को, टूटन उच्छेदन को न्यौता दे रहा है। और जिन लोगों का उद्देश्य गंभीरता से हमारी बहुत सारी परेशानियों के लिए मानवीय हल खोजना है, उन्हें पहले विचारणा की इस क्रिया को समझना होगा। जैसा कि मैंने कहा, यह विद्वानों-आचार्यों के बीच होने वाली चर्चा नहीं है, बल्कि यह ज़िंदगी जीने का एकदम व्यवहारिक

तरीका है। कोई दार्शनिक बात नहीं है, क्योंकि वह तो महज़ वक्त की बर्बादी है। वे सब सैद्धांतिक मामले हमें पूर्वस्नातकों पर, अपनी यूनिवर्सिटी व क्लबों में चर्चा करने के लिए छोड़ देने चाहिए।

तो हमारा विचार से क्या तात्पर्य है? धारणा उपजती कहाँ से है, विचार के बनने की प्रक्रिया क्या है? और क्या विचार और कर्म साथ में लाए जा सकते हैं? अर्थात् मेरे मन में एक विचार आया है और मैं उसे पूरा करना चाहता हूँ, तो मैं एक तरीका ढूँढता हूँ उस विचार को पूरा करने का; और हम कल्पना और अनुमान में अपना समय और ऊर्जा बर्बाद करते हैं, इस बारे में बहसबाजी करते हुए कि विचार को कैसे अमल में लाया जाए। इसलिए यह जानना बेहद ज़रूरी है कि विचार कैसे जन्म लेते हैं; और उसकी सच्चाई ढूँढ निकालने के बाद, हम कर्म के बारे में चर्चा कर सकते हैं। विचारों की चर्चा किए बिना, मात्र यह पता लगाना कि कर्म कैसे किया जाए, बेमानी होगा।

अब आपको कोई विचार कैसे आता है—एक बहुत ही साधारण सा विचार? उसको दार्शनिक, धार्मिक, या आर्थिक होने की ज़रूरत नहीं। निश्चित ही यह सोच की प्रक्रिया है, है कि नहीं? विचार सोच की प्रक्रिया का परिणाम है। सोच की प्रक्रिया के बिना कोई विचार पनप नहीं सकता। इसलिए पहले मुझे सोच की प्रक्रिया को अपने आप में समझना होगा ताकि मैं उसके परिणाम, अर्थात् विचार, को समझ सकूँ। आपका सोच से क्या तात्पर्य है? आप कब सोचते हैं? बेशक, सोच एक प्रतिकर्म है, दिमागी तंत्र का, एक मानसिक प्रक्रिया, है कि नहीं? यह या तो इंद्रियबोध की तात्कालिक प्रतिक्रिया है, या यह मनोवैज्ञानिक है, संचित स्मृतियों का प्रत्युत्तर। कोई अनुभूति होने पर तंत्रिकाओं में एक तात्कालिक प्रतिक्रिया होती है और एक संचित स्मृतियों की

मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया होती है, जिनमें जाति, समूह, गुरु, परिवार, परंपरा इत्यादि से जुड़े संस्कार शामिल हैं—इस सभी को आप सोच कहते हैं। तो सोच की प्रक्रिया स्मरणशक्ति की प्रतिक्रिया है, है कि नहीं? आपके पास सोचने के लिए कुछ नहीं होता अगर आपके पास स्मरणशक्ति नहीं होती; किसी अनुभव की याद, उसकी प्रतिक्रिया ही सोच को सक्रिय करती है। जैसे, उदाहरण के लिए, मेरे मन में देशभक्ति की ढेरों यादें हैं और मैं स्वयं को हिंदू कहता हूँ। पिछली प्रतिक्रियाओं, कर्मों, निहित अर्थों, परंपराओं, रिवाजों की स्मृतियों का वह भंडार किसी मुसलमान, बौद्ध या एक ईसाई की चुनौती का जवाब देता है; और स्मरणशक्ति कहीं न कहीं सोचने की प्रक्रिया की शुरुआत करती है। स्वयं में सोच की प्रक्रिया पर नज़र रखिए और आप इसकी सच्चाई को तुरंत परख सकते हैं। आपका किसी ने अपमान किया है और वह आपको याद रह जाता है, यह पृष्ठभूमि का कुछ हिस्सा निर्मित करता है; और जब आप उस इंसान से मिलते हैं, जो कि चुनौती है, आपकी प्रतिक्रिया उस अपमान की स्मृति है। तो स्मृति की प्रतिक्रिया, जो कि सोच की प्रक्रिया है, एक विचार को जन्म देती है; इसलिए विचार हमेशा संस्कारबद्ध होता है—यह समझना ज़रूरी है। अंततः विचार सोच की प्रक्रिया का परिणाम है, सोच की प्रक्रिया स्मृति की प्रतिक्रिया है, और विचार हमेशा संस्कारबद्ध होता है। स्मृति, याददाश्त हमेशा अतीत में है, और उस याददाश्त को वर्तमान में चुनौती के ज़रिए जीवनदान मिल जाता है। याददाश्त स्वयं में सजीव नहीं है; वह वर्तमान में जीवित हो उठती है जब उसका सामना चुनौती से होता है। आखिरकार, याददाश्त, चाहे सक्रिय हो या सुषुप्त, संस्कारबद्ध है, है कि नहीं?

फिर याददाश्त क्या है? अगर आप अपनी स्वयं की याददाश्त पर ध्यान देंगे और यह भी समझेंगे की आप यादों को

कैसे इकट्ठा किया करते हैं, तब आप देखेंगे कि यह या तो तथ्यों, तकनीक, सूचना, अभियांत्रिकी, गणित, भौतिक विज्ञान, इत्यादि है, या यह एक बचा हुआ, अधूरा अनुभव है। आप अपनी स्वयं की याददाश्त पर ध्यान देंगे तो आपकी समझ में आ जाएगा। जब आप कोई अनुभव पूर्ण रूप से जी लेते हैं, तो उस अनुभव की कोई याद मनोवैज्ञानिक रूप से शेष नहीं रह जाती है। कुछ शेष तभी रहता है जब कोई अनुभव पूर्ण रूप से समझ में नहीं आता; और अनुभव समझ में नहीं आता क्योंकि हम हर अनुभव को बीती हुई यादों के चश्मे से देखते हैं, और इसलिए हम नए को नए की तरह महसूस करने की बजाय हमेशा पुराने से जोड़ कर महसूस करते हैं। तो यह साफ है कि अनुभव के प्रति हमारी प्रतिक्रिया संस्कारबद्ध है, हमेशा सीमित है।

तो हम यह देखते हैं कि वो अनुभव जो पूर्ण रूप से समझ में नहीं आते हैं, शेष कुछ छोड़ जाते हैं जिसे हम याददाश्त कहते हैं। उस याददाश्त को जब चुनौती मिलती है तब वह सोच-विचार पैदा करती है। वही सोच-विचार धारणा को जन्म देता है, और धारणा कर्म को आकार देती है, सांचे में ढालती है। इसलिए वह कर्म जो विचार पर, धारणा पर आधारित है कभी भी मुक्त नहीं हो सकता; इसलिए विचार के ज़रिए हममें से किसी को मुक्ति नहीं मिल सकती। इस पर ज़रा गौर करें, यह समझना बेहद ज़रूरी है। मैं विचारों के विरोध में किसी तर्क का निर्माण नहीं कर रहा हूँ, मैं यह चित्रण कर रहा हूँ कि कैसे विचार कोई क्रांति नहीं ला सकते। विचार वर्तमान की अवस्था में सुधार ला सकते हैं, या वर्तमान की अवस्था को बदल सकते हैं, पर वह क्रांति नहीं है। प्रतिस्थापन या कुछ फेरबदल के साथ जारी रहने वाली निरंतरता क्रांति नहीं है। अगर मेरा शोषण हो रहा है, तो चाहे मेरा शोषण निजी पूंजीपतियों द्वारा हो रहा हो या फिर सरकार

द्वारा, यह बहुत कम मायने रखता है; पर हम सरकार द्वारा शोषण को कुछ लोगों द्वारा शोषण से बेहतर मानते हैं। क्या वाकई यह कुछ बेहतर है? मैं प्रमुख लोगों की बात नहीं कर रहा हूँ। क्या यह उस इंसान के लिए बेहतर है जिसका शोषण हो रहा है? तो मात्र सुधार ही क्रांति नहीं है, यह तो मात्र परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया है। अर्थात् पूंजीवादी परिस्थिति साम्यवाद रूपी प्रतिक्रिया पैदा कर सकती है, पर वह फिर भी उसी श्रेणी की है। एक अलग आकार लिए वह पूंजीवाद की निरंतरता का एक रूप है। मैं पूंजीवाद या साम्यवाद में से किसी को बढ़ावा नहीं दे रहा हूँ। हम यह पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं कि हम बदलाव से क्या समझते हैं, क्रांति से क्या समझते हैं। तो कोई विचार, शब्द के गहन अर्थ में, कभी भी क्रांति नहीं पैदा कर सकता। विचार जो है उसी की निरंतरता का एक सुधरा हुआ रूप प्रस्तुत कर सकता है, पर वह तो क्रांति नहीं है। पर हमें क्रांति की बेहद ज़रूरत है। और हमें क्रांति की ज़रूरत है, एक बदली हुई निरंतरता की नहीं; हमें कोई अदलाबदली नहीं, बल्कि एक पूर्ण आमूल परिवर्तन चाहिए।

तो क्रांति लाने के लिए, उस आमूल परिवर्तन को लाने के लिए, मुझे पहले विचारों को समझना होगा और यह समझना होगा कि विचार पैदा कैसे होते हैं; और अगर मैं विचारों को समझ पा रहा हूँ, अगर मैं गलत को गलत की तरह देख पा रहा हूँ, तब मैं यह खोजने के लिए तैयार हूँ कि हमारा कर्म से क्या तात्पर्य है। अगर सोच धारणा को जन्म देती है—या सोच-विचार ही अभिव्यक्त होने पर वह है जिसे मैं धारणा कहता हूँ और अगर सोच हमेशा संस्कारबद्ध है क्योंकि वह चुनौती के सम्मुख स्मृति की प्रतिक्रिया है, जब कि चुनौती सदैव नयी है, तब एक विचार कभी भी क्रांति को, उस शब्द के गहन अर्थ में निहित

बुनियादी बदलाव को, नहीं ला सकता; लेकिन फिर भी क्या हम वही करने की कोशिश नहीं कर रहे? हम एक विचार से अपेक्षा कर रहे हैं कि वह क्रांति लाएगा। उम्मीद है कि आप मुझे समझ पा रहे होंगे।

तो हमारी समस्या यह है : अगर मैं किसी विचार या धारणा, जो कि एक चिंतन की, सोच की प्रक्रिया है, पर निर्भर नहीं कर सकता, तो मैं कर्म कैसे कर सकता हूँ। पर, ज़रा गौर करें इससे पहले कि मैं यह पता लगा सकूँ कि कर्म कैसे किया जाए, मुझे यह पूरी तरह से समझ लेना होगा कि वह कर्म जो कि विचार पर आधारित है पूरी तरह से झूठा है; मुझे यह देखना पड़ेगा कि विचार कर्म को आकार देते हैं, और वह कर्म जो विचार ने संजोया-गढ़ा है हमेशा सीमित होगा। विचार, विचारधारा, या श्रद्धा पर आधारित कर्म मुक्ति नहीं दिला सकता, क्योंकि यह कर्म सोच का, चिंतन प्रक्रिया का परिणाम है जो कि आखिरकार याददाश्त की ही प्रतिक्रिया है। वह चिंतन प्रक्रिया निस्संदेह एक ऐसा विचार ही जनेगी जो अनुबंधित, सीमित होगा, और सीमाओं में बंधा कर्म इंसान को कभी मुक्त नहीं कर सकता। विचार पर आधारित कर्म सीमित कर्म है, अनुबंधित कर्म है, और अगर मैं उस कर्म को मुक्ति के साधन के रूप में देखता हूँ, तो बेशक मैं एक संस्कारबद्ध अवस्था में ही आगे बढ़ सकता हूँ। इसलिए मैं विचार को कर्म के मार्गदर्शक के रूप में नहीं देख सकता। पर फिर भी कर हम वही रहे हैं, क्योंकि हम विचारों के इतने आदी जो हैं, फिर चाहे वो दूसरों के हों या हमारे।

तो अब हमें यह पता लगाना है कि कर्म को बिना चिंतन के, बिना विचारणा के कैसे किया जाए—जो सुनने में थोड़ा अजीब लग सकता है; पर क्या वाकई में ऐसा है? अब हम

अपनी परेशानी को ज़रा समझें, यह वाकई में काफी दिलचस्प है। जब मैं चिंतन प्रक्रिया, जो उस विचार को जन्म देती है जो आखिरकार कर्म को आकार देता है, के दायरे में जीता और काम करता हूँ तो मुक्ति नहीं है। अब क्या मैं उस चिंतन प्रक्रिया, जो कि याददाश्त है, के बिना काम कर सकता हूँ? यहां हम थोड़ा स्पष्ट रहें : याददाश्त से मेरा मतलब तथ्यों की स्मृति कतई नहीं है। एक घर, डाइनेमो, या जेट विमान को कैसे बनाया जाए, अणु को कैसे तोड़ा जाए, इत्यादि जैसी तकनीकी जानकारी—जिसे सदियों, युगों में मानवजाति ने हासिल किया है—को फेंक देने की बात करना बेवकूफी होगी। पर क्या मैं जीवित रह सकता हूँ, काम कर सकता हूँ, दूसरे के साथ संबंध बना सकता हूँ, बगैर याददाश्त की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया के जो कि विचारशक्ति को जन्म देती है, जो अंत में कर्म को वश में रखती है? हममें से बहुतों को सुनने में यह अजीब लग सकता है, क्योंकि हम आदतन पहले विचार को अपने मन में लाते हैं और फिर कर्म को उसके अनुसार ढालते हैं। हमारी सारी व्यवस्थाएं, गतिविधियां, सभी इसी पर आधारित हैं—पहले विचार, फिर विचार के अनुरूप ढलना; और जब मैं इस प्रश्न को आपके समक्ष रखता हूँ तो आपके पास कोई उत्तर नहीं रहता, क्योंकि आपने इस बारे में कभी इस तरह से सोचा ही नहीं है। जैसा कि मैंने कहा कि यह आप में से बहुतों को सुनने में अजीब लगेगा; पर अगर आप जिंदगी की पूरी प्रक्रिया को वास्तव में नज़दीक से और संजीदगी से समझना चाहते हैं, और इसलिए नहीं कि आप कुछ-एक शब्द एक-दूसरे पर फेंक सकें, तब यह प्रश्न ज़रूर उठेगा कि हमारा कर्म से क्या तात्पर्य है।

अब, क्या कर्म वाकई में विचार पर आधारित है, या पहले कर्म आता है और बाद में विचार? अगर आप और भी गौर से

Transformation is not in the future, can never be in the future. It can only be now, from moment to moment. So what do we mean by transformation? Surely it is very simple: seeing the false as the false and the true as the true. Seeing the truth in the false and seeing the false in that which has been accepted as the truth. Seeing the false as the false and the true as the true is transformation, because when you see something very clearly as the truth, that truth liberates. When you see that something is false, that false thing drops away. When you see that ceremonies are mere vain repetitions, when you see the truth of it and do not justify it, there is transformation, is there not?, because another bondage is gone. When you see that class distinction is false, that it creates conflict, creates misery, division between people when you see the truth of it, that very truth liberates. The very perception of that truth is transformation, is it not? As we are surrounded by so much that is false, perceiving the falseness from moment to moment is transformation. Truth is not cumulative. It is from moment to moment. That which is cumulative, accumulated, is memory, and through memory you can never find truth, for memory is of time, time being the past, the present and the future. Time, which is continuity, can never find that which is eternal; eternity is not continuity. That which endures is not eternal. Eternity is in the moment. Eternity is in the now. The now is not the reflection of the past nor the continuance of the past through the present to the future.

Excerpts from *First & Last Freedom*

आमूलपरिवर्तनं तु भविष्यत्काले न भवति, तद् भविष्यत्काले भवितुमपि न प्रभवति । तत्तु केवलमिदानीमेव क्षणक्षणं भवितुमर्हति । अतः अनेन परिवर्तनेन अस्माकं तात्पर्यं किम्? नूनमिदम् अत्यन्तं सुगमम् - यद्मिथ्या तद्मिथ्येति, यत् सत्यं तत् सत्यमिति च दर्शनम् । अपि च यद्मिथ्या तस्मिन् सत्यं, यत् सत्यमिति सर्वैः मन्यते तस्मिन् मिथ्यादर्शनं च । यद्मिथ्या तद्मिथ्येति, यत् सत्यं तत् सत्यमिति च दर्शनमेव आमूलपरिवर्तनं नाम । यतः, यदा भवान् किमपि अत्यन्त स्पष्टतया तदिदं सत्यमिति पश्यति तदा तत्सत्यमेव भवन्तं विमुक्तं करोति । यदा भवान् कामपि स्थितिं मिथ्येति पश्यति तदा सा मिथ्यास्थितिः अवसीयते । यदा भवान् सर्वे कर्मकाण्डाः निरर्थकाः, केवलम् आवृत्तिमात्रपरकाः इति पश्यति, किञ्च तस्य सत्यतां दृष्ट्वा, तद् न समर्थयति, तदा मौलिकं परिवर्तनं भवति, न भवति किम्? यतः पुनरपि एकं बन्धनम् अपगतम् । यदा भवान् वर्गभेदः कृत्रिमः, स तु संघर्ष, दैन्यम्, प्रजानां मध्ये विभेदं च जनयतीति पश्यति, तस्मिन् यत् सत्यं तद् भवान् यदा पश्यति तदा तत्सत्यमेव भवन्तं विमुक्तं करोति । तत्सत्यदर्शनमेव मौलिकं परिवर्तनम् । यतो वयम् इयता मिथ्याभूतेन सर्वतः परिवृताः स्मः, ततः तत्सर्वं मिथ्येति क्षणक्षणं दर्शनमेव परिवर्तनं । सत्यं तु न संचयरूपम् । तत् प्रतिक्षणं विद्यते । यत् संचयरूपम् संगृहीतं भवति तत् स्मृतिः । स्मृतिसाहाय्येन भवान् कदापि सत्यं द्रष्टुं न प्रभवति । स्मृतिस्तु कालसम्बद्धा । कालोनाम भूत-भविष्यद्-वर्तमानरूपः । नैरन्तर्यमेव कालस्वभावः । स कालः यत् सनातनं भवति तद् अधिगन्तुं न प्रभवति, यतः सनातनत्वं तु न नैरन्तर्यम् । यत् चिरकालमवतिष्ठते तत् सनातनं न भवति । सनातनत्वं तु प्रतिक्षणमस्ति । सनातनत्वम् अस्मिन् क्षणे अस्ति । अयं क्षणः न तु गतकालस्य प्रतिबिम्बं, नापि गतकालस्य वर्तमानकालद्वारा भविष्यत्कालं प्रति निरन्तरगमनं वा ।

संस्कृत अनुवाद : हनुमंत राव

देखेंगे तो आपको पता चलेगा कि विचार नहीं, कर्म हमेशा पहले आता है। पेड़ पर बैठे बंदर को पहले भूख लगती है और फिर उसे फल या मूंगफली खाने की इच्छा होती है। पहले कर्म आता है और उसके बाद ही जमा करने का विचार आता है। कुछ इस तरह कहा जाए तो : क्या पहले कर्म आता है या कर्म करने वाला यानी कर्ता? क्या कर्म के बगैर कर्ता का कोई अस्तित्व है? क्या आप समझ पा रहे हैं? यही हम हमेशा स्वयं से पूछते आ रहे हैं : कौन है वह जो देखता है? कौन है दर्शक? क्या विचारक अपने विचार से, अवलोकन करने वाला अवलोकन से, अनुभूति करने वाला अनुभूति से, कर्ता कर्म से अलग है? क्या ऐसा कोई तत्त्व है जो हमेशा कर्म पर हावी रहता है और उसका निरीक्षण करता रहता है—आप चाहें तो उसे परम ब्रह्म के नाम से पुकार सकते हैं या कुछ और? जब आप किसी को कुछ नाम देते हैं, तो आप मात्र उसी विचार में फंस जाते हैं, और वह विचार आपको चिंतन के लिए विवश कर देता है; और इसलिए आप कह देते हैं कि कर्ता पहले आता है और बाद में कर्म। पर अगर आप वास्तव में उस प्रक्रिया को ध्यान से, निकट से, और बुद्धिमत्तापूर्वक देखेंगे, तो आप को पता चलेगा कि हमेशा पहले कर्म आता है, और वह कर्म जो किसी परिणाम की खातिर किया जाए कर्ता की उत्पत्ति करता है। क्या आप समझ पा रहे हैं? अगर कर्म किसी परिणाम की खातिर किया जाता है, तो उस अंत की प्राप्ति, कर्ता को जन्म देती है। अगर आप बड़े ध्यान से, बिना पूर्वाग्रह के, बिना किसी ढर्रे के, बिना किसी को राजी करने की कोशिश के, बिना किसी अंत की चिंता किए सोच पाते हैं, तो देखेंगे कि उस सोच में कोई सोचने वाला नहीं है—सिर्फ सोचने की क्रिया है। जब भी आप सोचने की क्रिया के अंत में कुछ अपेक्षा रखते हैं, तभी आप ज़्यादा ज़रूरी हो जाते हैं, न की आपकी सोच। आप

में से कुछ ने शायद इस पर ध्यान दिया होगा। इसका पता लगाना बहुत ही ज़रूरी है, क्योंकि इसी से हमें वह पता चलेगा कि कर्म कैसे किया जाए। अगर चिंतक पहले आता है, तो चिंतक चिंतन से ज़्यादा ज़रूरी है, और वर्तमान सभ्यता के सारे सिद्धांत, रिवाज, और गतिविधियां इसी मान्यता पर आधारित हैं; पर अगर चिंतन पहले आता है, तो चिंतन चिंतक से ज़्यादा अहम है। यकीनन दोनों का एक दूसरे के साथ संबंध है—न चिंतक के बगैर चिंतन मुमकिन है और न ही चिंतन के बगैर चिंतक। पर अभी मैं इस बारे में बातचीत नहीं करना चाहता हूं, नहीं तो हम मुद्दे से भटक जाएंगे।

तो क्या याददाश्त के बगैर कर्म मुमकिन है? अर्थात् क्या ऐसा कर्म मुमकिन है जो निरंतर क्रांतिकारी हो? याददाश्त के जाल से मुक्त कर्म ही है जो हर पल क्रांतिकारी है। एक विचार निरंतर, प्रतिक्षण घटित हो रही क्रांति नहीं ला सकता, क्योंकि वह हमेशा अपनी पृष्ठभूमि के संस्कारों के अनुसार कर्म को बदल देता है। तो हमारा प्रश्न यह है कि क्या बिना उस चिंतन प्रक्रिया के जो विचार को जन्म देती है, जो कि आखिर में कर्म को वश में रखता है, कर्म मुमकिन है? मैं कहता हूं कि ऐसा हो सकता है, तुरंत ही, जब आप यह देखते हैं कि विचार कभी मुक्ति नहीं लाता, बल्कि कर्म के लिए एक बाधा है। अगर मैं यह देख पाता हूं तो मेरा कर्म किसी विचार पर आधारित नहीं रहता, और इसलिए मैं एक संपूर्णक्रांति की स्थिति में होता हूं; और इसलिए अब एक ऐसा समाज मुमकिन है जो जड़ नहीं है, जिसे कभी नष्ट करके दोबारा बनाने की ज़रूरत नहीं है। मैं कहता हूं कि आप अपनी बीवी, शौहर, और पड़ोसी के साथ कर्म की उस स्थिति में रह सकते हैं जो कि विचार के अनुसार नहीं ढला है; और वह तभी मुमकिन है जब आप विचार के महत्त्व को समझ

सकेंगे, कैसे विचार बनता है और कर्म को अपने अनुसार ढालता है। वह विचार जो कर्म को अपने अनुसार ढालता है कर्म के लिए हानिकारक है, और वह इंसान जो विचार को क्रांति के वाहक के रूप में देखता है, चाहे वह जनसमूह में क्रांति की बात हो या फिर हर एक व्यक्ति के अंदर, वह व्यर्थ की अपेक्षा रखता है। क्रांति सतत, पल-दर-पल होती है, यह कभी जड़ नहीं हो सकती। विचार क्रांति नहीं लाते, बल्कि सिर्फ एक बदली हुई निरंतरता को पैदा करते हैं। सिर्फ वही कर्म जो कि विचार पर आधारित नहीं है क्रांति ला सकता है, ऐसी क्रांति जो पल-दर-पल है और इसलिए हमेशा नवीन रहती है।

प्रश्न : हम एक-दूसरे के लिए इतने संवेदनहीन क्यों हैं, बावजूद इसके कि इसमें इतनी पीड़ा निहित है?

कृष्णमूर्ति : मैं या आप दूसरे इंसान के दुःख के प्रति इतने संवेदनहीन क्यों हैं? वह कुली जिसने भारी सामान उठाया है, वह औरत जिसने एक बच्चे को उठाया है, हम उन सभी के प्रति संवेदनहीन क्यों हैं? हम संवेदनहीन क्यों हैं? उसे समझने के लिए हमें यह समझना ज़रूरी है कि पीड़ा हमें इतना जड़ क्यों बना देती है। यकीनन, यह पीड़ा है जो हमें संवेदनहीन बनाती है; क्योंकि हम पीड़ा को समझ नहीं पाते हैं, हम उसके प्रति उदासीन हो जाते हैं। अगर मैं पीड़ा को समझ पा रहा हूँ, तो मैं उस के प्रति संवेदनशील हो जाता हूँ, मेरी आंखें खुल जाती हैं—हर-एक चीज़ को मैं नए सिरे से देखता हूँ, सिर्फ स्वयं को ही नहीं, बल्कि उन्हें भी जो लोग मेरे आसपास हैं, मेरी बीवी, मेरे बच्चे, जानवर, भिखारी। पर हम पीड़ा को समझना ही नहीं चाहते हैं; हम पीड़ा से दूर भागना चाहते हैं; और पीड़ा से भागना हमें जड़ कर देता है, और इसलिए हम संवेदनहीन हो जाते हैं। महोदय, मुद्दा यह है कि पीड़ा जब समझ नहीं ली

जाती है तो वह दिलो-दिमाग को क्षीण बना देती है; और हम पीड़ा को समझते नहीं हैं क्योंकि हम उससे भागना चाहते हैं, गुरु के ज़रिए, किसी मसीहा के ज़रिए, मंत्रों के ज़रिए, पुनर्जन्म के ज़रिए, विचारों के ज़रिए, शराब और हर दूसरे किस्म के नशे के ज़रिए—जो है उससे बचने के लिए कुछ भी करना स्वीकार लेते हैं। तो हमारे मंदिर, हमारे गिरिजाघर, हमारी राजनीति, हमारे सामाजिक सुधार, सिर्फ पीड़ा से बचने के तरीके हैं। हमारा मतलब पीड़ा से नहीं है, बल्कि पीड़ा से कैसे बचा जाए, उस विचार से है। हमारा मतलब विचारों से है, पीड़ा से नहीं; हम निरंतर ढूँढ रहे हैं एक बेहतर विचार को और उसको पूरा करने के तरीके को, जो कि बहुत बचकाना है। जब आपको भूख लगती है तो आप यह चर्चा नहीं करते कि खाना कैसे खाया जाए; आप कहते हैं, “मुझे खाना दो”, आपका इससे कोई वास्ता नहीं रहता कि उसको लाएगा कौन, दक्षिणपंथ या वामपंथ, या कौन सी विचारधारा सबसे बेहतर है। पर जब आप ‘जो है’ उससे बचना चाहते हैं, जो कि पीड़ा है, तब आप विचारधाराओं के पीछे छिप जाते हैं; और इसलिए हमारे दिमाग जो कि सतही रूप से बहुत सयाने हैं, वास्तव में क्षीण, रूखे, संवेदनहीन, क्रूर हो गए हैं। पीड़ा को समझने के लिए यह देखना ज़रूरी है कि सारे भागने के तरीके गलत हैं, चाहे वह भगवान हो या शराब। सारे भागने के तरीके समान हैं हालांकि सामाजिक तौर पर उनकी अलग-अलग विशेषता हो सकती है। जब मैं दुःख से भागता हूँ तो सारे भागने के तरीके समान स्तर पर हैं—कोई तरीका बेहतर नहीं है।

अब पीड़ा की समझ उसके मूल कारण को ढूँढ लेने में नहीं है। कोई भी इंसान पीड़ा के मूल कारण का पता लगा सकता है; उसकी खुद की लापरवाही, उसकी बेवकूफी, उसकी संकीर्णता, उसकी बर्बरता, इत्यादि। पर अगर मैं पीड़ा को स्वयं में देखता हूँ,

किसी उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना, तब क्या होता है? तब, क्योंकि मैं भाग नहीं रहा हूँ, मैं पीड़ा को समझने लगता हूँ; मेरा दिमाग बिलकुल सतर्क है, इच्छुक है, जिसका मतलब है कि मैं संवेदनशील बन गया हूँ, और संवेदनशील बनते ही मैं दूसरों की पीड़ा को समझने लगा हूँ। इसलिए मैं संवेदनहीन नहीं हूँ, इसलिए मैं दयालु हूँ, सिर्फ अपने दोस्तों के लिए नहीं—मैं सब के प्रति दयाभाव रखता हूँ, क्योंकि मैं पीड़ा के प्रति संवेदनशील हूँ। हम संवेदनहीन हैं क्योंकि हम पीड़ा के प्रति जड़ हो गए हैं, हमने वस्तुस्थिति से भागकर, पलायनकर अपने दिमाग को क्षीण और कुंद बना दिया है। भागना अतिशय शक्ति का, सत्ता का एहसास देता है, और हमें शक्ति अच्छी लगती है, हम चाहते हैं कि हमारे पास एक रेडियो हो, एक मोटर गाड़ी हो, एक विमान हो, हम बहुत सारा पैसा चाहते हैं और शक्ति का मज़ा लेना चाहते हैं। पर जब आप पीड़ा को समझते हैं, तो न शक्ति या सत्ता का सवाल होता है और न उसके ज़रिए पलायन का। जब आप पीड़ा को समझते हैं, तब दयालुता, स्नेह—यह सब विद्यमान रहता है। स्नेह और प्यार के लिए उच्चतम सूझ-बूझ की, परम प्रज्ञा की दरकार रहती है, और बिना संवेदनशीलता के किसी तरह की गहरी समझ, बुद्धिमत्ता संभव ही नहीं।

प्रश्न : धर्मों, सिद्धांतों, विचारों, और विश्वासों में सच के कुछ अंश मिलते हैं। उनको अलग करने का सही तरीका क्या है?

कृष्णमूर्ति : गलत तो गलत है, और जानने की महज़ इच्छा से आप गलत को सही से अलग नहीं कर सकते हैं, जब आप गलत को गलत के रूप में देख पाएंगे, सिर्फ तभी गलत का अंत हो सकता है। आप सच को झूठ में नहीं ढूँढ सकते, पर आप झूठ को झूठ की तरह देख सकते हैं, और तब झूठ से मुक्ति

मिल जाती है। महोदय, झूठ सच को कैसे रख सकता है? अज्ञान और अंधकार समझ और उजाले को कैसे रख सकते हैं? मुझे पता है हम चाहते हैं कि ऐसा हो; हम ऐसा सोचते हैं कि हम में कहीं वह कालातीत, उजाला, सच, धर्मपरायणता सब हों, अज्ञान से ढके हुए। जहां उजाला है, वहां अंधेरा नहीं है; जहां अज्ञान है, वहां हमेशा ही अज्ञान है, पर कभी भी समझ नहीं है। तो, मुक्ति तभी है जब हम और आप गलत को गलत की तरह देख लेते हैं, अर्थात् जब हम झूठ की सच्चाई को भांप लेते हैं, जिसका मतलब है कि गलत में गलत की तरह नहीं ठहर जाते। हमारी संस्कारबद्धता, हमारे पूर्वाग्रह हमें मिथ्या के मिथ्यापन को देखने से रोकते हैं। इस समझ के साथ, चलिए आगे बढ़ते हैं।

अब सवाल यह है कि क्या धर्मों, सिद्धांतों, विचारों, आदर्शों, में कोई सच्चाई नहीं है? चलिए, पता लगाते हैं। हमारा धर्म से क्या तात्पर्य है? निश्चित ही हम संगठित धर्म की बात नहीं कर रहे हैं, न हिंदू धर्म की, न बौद्ध धर्म, न ही ईसाई धर्म की—जो सभी संगठित विश्वास हैं, प्रचार, धर्म परिवर्तन, मजबूरी इत्यादि को स्वयं में समेटे हुए। क्या संगठित धर्म में कोई सच्चाई है? वह सच को फंसा के, उलझा के रख सकता है, पर संगठित धर्म स्वयं में सच नहीं है। इसलिए संगठित धर्म झूठ है, वह इंसान को इंसान से अलग करता है। आप एक मुसलमान हैं, मैं एक हिंदू, दूसरा एक ईसाई या बौद्ध धर्म को मानने वाला है—और हम एक-दूसरे को काटने-मारने पर तुले हैं। क्या इसमें कोई सत्य निहित है? हम धर्म की चर्चा सत्य की तलाश के एक तरीके के रूप में नहीं कर रहे हैं, पर हम यह देख रहे हैं कि क्या संगठित धर्म में कोई सत्य निहित है। हमें संगठित धर्म ने इतना आदी कर दिया है यह सोचने के लिए कि उसमें सच्चाई निहित है और हम यह मानने लगे हैं कि स्वयं को हिंदू कहने भर

से आप कुछ हो जाते हैं, या हमें भगवान मिल जाएगा। कितनी बेतुकी बात है। भगवान को पाने के लिए, सच्चाई को पाने के लिए उत्कृष्ट आचरण का, नेकी का होना ज़रूरी है। नेकी, शीलनिष्ठा मुक्ति है, स्वतंत्रता है और सिर्फ मुक्त रहकर ही सच्चाई खोजी जा सकती है—तब नहीं जब आप किसी संगठित धर्म में फंसे हैं, उसके विश्वासों में कैद। और क्या आपको सिद्धांतों, आदर्शों, विश्वासों में कोई सत्य दिखाई पड़ता है? आपके पास विश्वास क्यों हैं? बेशक क्योंकि विश्वास आपको सुरक्षा, सुविधा, मार्गदर्शन देते हैं। आप स्वयं में डरे हुए हैं, आप सुरक्षा चाहते हैं, आप किसी का सहारा चाहते हैं, और इसलिए आप एक आदर्श बनाते हैं, जो आपको 'जो है' उसे समझने से रोकता है। इसलिए आदर्श कर्म के लिए बाधा बन जाता है। जब मैं हिंसक हूँ तो मैं अहिंसा के आदर्श को क्यों तलाशता हूँ? निश्चित ही इसलिए क्योंकि मैं हिंसा से बचना चाहता हूँ, उससे दूर भागना चाहता हूँ। मैं वह आदर्श संजोता हूँ ताकि मुझे हिंसा का सामना न करना पड़े और उसे समझना न पड़े। मुझे वह आदर्श चाहिए ही क्यों? वह एक अवरोधक है। अगर मैं हिंसा को समझना चाहता हूँ तो मुझे उसे सीधे समझना होगा, आदर्श के पर्दे के ज़रिए नहीं। आदर्श गलत है, काल्पनिक है, मुझे वह समझने से रोक रहा है जो मैं हूँ। इसे और ध्यान से देखिए और आप देख पाएंगे। अगर मैं हिंसक हूँ, तो हिंसा को समझने के लिए मुझे कोई आदर्श नहीं चाहिए, मार्गदर्शक नहीं चाहिए। पर असल में मुझे हिंसक होना अच्छा लगता है, इससे मुझे एक किस्म की शक्ति का एहसास होता है, और मैं हिंसक बना रहूँगा, हालांकि मैं इसे अहिंसा के आदर्श से ढक भले ही दूँ। तो आदर्श काल्पनिक है, यह है ही नहीं। यह सिर्फ दिमाग में मौजूद है; यह एक विचार है जिसे पाना है, और इस बीच में मैं हिंसक बना

रह सकता हूँ। इसलिए एक आदर्श, विश्वास की ही तरह सच नहीं है, झूठ है।

अब, मैं विश्वास क्यों करना चाहता हूँ? निश्चित ही एक इंसान जो ज़िंदगी को समझ रहा है उसे विश्वासों, मान्यताओं की ज़रूरत नहीं है। एक इंसान जो प्यार करता है, वह विश्वास नहीं होता—वह तो प्यार करता है। विश्वास तो उस इंसान के पास है जो बुद्धि के पीछे बरगलाया हुआ है, क्योंकि बुद्धि हमेशा सुरक्षा ढूँढती है; वह हमेशा खतरे से बचती रहती है, और इसलिए वह विचारों, विश्वासों, आदर्शों का गठन करती रहती है, जिसके पीछे वह छिप जाती है। क्या होगा अगर आप हिंसा का सामना सीधे करें, अभी? आप समाज के लिए खतरा बन जाएंगे; और क्योंकि दिमाग खतरे को पहले ही भांप लेता है, वह कहता है, “मैं अहिंसा का आदर्श दस साल में पूरा करूँगा”, जो कि एक बहुत ही काल्पनिक, झूठी प्रक्रिया है। तो, सिद्धांत—यहां हम गणित के या वैसे ही और सिद्धांतों की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि उन सिद्धांतों की जो हमारी इंसानी, मनोवैज्ञानिक परेशानियों में से उभर के आते हैं—विश्वास, आदर्श, सब झूठे हैं, क्योंकि वे हमें चीज़ों को वैसी देखने से रोकते हैं जैसी वे हैं। जो है, उसे समझना ज़्यादा ज़रूरी है, बजाय आदर्शों को पैदा करना और उनके पीछे चलना; क्योंकि आदर्श झूठे हैं और जो है वह यथार्थ है। जो है उसे समझने के लिए एक गहरी क्षमता की ज़रूरत है, पूर्वाग्रहों में न उलझा हुआ तेज़ दिमाग चाहिए। क्योंकि हम जो हैं, उसका न सामना करना चाहते हैं और न उसे समझना चाहते हैं, इसलिए हम बहुत सारे भागने के तरीकों को ईजाद करते हैं और उन्हें बहुत प्यारे नाम दे लेते हैं जैसे कि आदर्श, विश्वास, भगवान। बेशक, जब मैं गलत को गलत की तरह देखता हूँ, तभी मेरा दिमाग सच को भांप पाता है। एक दिमाग

जो झूठ में उलझा है सच को कभी नहीं पा सकता। इसलिए यह ज़रूरी है कि मैं समझूं कि मेरे संबंधों में, मेरे विचारों में, मेरे अपने कर्म-व्यवहार में क्या गलत है; क्योंकि सच को भांपने के लिए गलत की समझ ज़रूरी है। बिना अज्ञान के कारणों को हटाए, ज्ञानोदय नहीं हो सकता; और ज्ञानोदय का इच्छुक होना जब दिमाग में अंधेरा है, बिलकुल व्यर्थ है। इसलिए मुझे विचारों, लोगों, चीज़ों से मेरे जो संबंध हैं, उनमें गलत को देखना शुरू कर देना चाहिए। जब दिमाग जो गलत है, झूठ है उसे देख लेता है, तो जो सच है वह जीवित हो जाता है; और तब परम आनंद है, खुशी है।

१ अगस्त, १९४८

खण्ड दो

9. पंजाब में संवाद गोष्ठी

१४ फरवरी २०१२ के दिन श्री राजेश दलाल जी के साथ लुधियाना में अमृता चौधरी जी के घर पर एक डायलाग का आयोजन किया गया। यह चर्चा अपने आप में बिल्कुल अलग ही तरह के संवाद की शुरूआत थी। चर्चा में हिस्सा लेने वालों से यही उम्मीद की जा रही थी कि वह उस चर्चा को स्वयं की निरख-परख के एक सक्रिय माध्यम के रूप में इस्तेमाल करें। हममें से बहुत से लोगों के लिए यह एकदम नया अनुभव था। मन या तो अपनी जानकारियों को दूसरों पर थोपना जानता है या फिर उन्हें सत्ता के आसन पर बिठा कर अपने सवालियों के जवाब उनसे मांगने लगता है। यह दोनों ही रंग बीच-बीच में अपनी झलकियां दिखाते रहे।

लेकिन सहज ही धीरे-धीरे सारी चर्चा एक खास दिशा में बह चली, जो बिल्कुल भी पूर्व निर्धारित नहीं थी। लगभग सभी लोग इस बात पर सहमत थे कि पुराना मन जो अतीत के अनुभवों से ही बना है, वह खुद को अधूरा महसूस करता है, और फिर तरह-तरह के साधनों से उस अपूर्णता को भरने में जुट जाता है, सारे साधन भले ही वो दुनियावी हों या रुहानी, बुनियादी रूप से एक ही होते हैं।

श्री राजेश दलाल ने प्रश्न को कुछ इस तरह से प्रस्तुत किया कि अधूरेपन के इस एहसास से मुक्त हो पाना संभव है या नहीं, क्या हम इस सवाल के साथ बने रह सकते हैं, बिना कोई भी जवाब दिए, बिना किसी कोशिश, किसी प्रतीक्षा या आशा के, उस सवाल के साथ रहना, साफ-साफ इस बात को देखते हुए

कि हां में इसका जवाब नहीं जानता, और वहां जब ना जानने की कोई शर्मिंदगी नहीं होती, ना जानने का कोई उतावलापन— यह एक तरह से मौत को न्योता देने वाली बात है, यहीं पर शायद वह मन विदा होता है जिसकी नींव जाने हुए या जानने में ही टिकी है, जो अपनी सीमाएं बढ़ाता रहता है। क्या हम ऐसा कर सकते हैं, क्या ऐसा मन संभव है जो अबोधता पर, ना-जानने के भाव पर टिका हो?

अगले दिन १५ फरवरी के रोज़ ऐसी ही एक चर्चा चंडीगढ़ के सैक्टर १७ में 'को-वेदा' स्कूल में भी आयोजित की गई।

संसार आज जिस भयानक संकट के दौर से गुज़र रहा है, उसके प्रति हमारा प्रतिकर्म क्या हो, हम उस संकट का सामना कैसे करें जो हमसे अलग नहीं, जो हमारा ही जीवन है। यही उस चर्चा का विषय था। कुछ लोगों ने इस अभूतपूर्व संकट के गर्भ में छिपी संभावनाओं की तरफ भी इशारा किया। लेकिन एक बात तो सब को साफ-साफ नज़र आ रही थी कि हर आने वाली पीढ़ी के साथ मानवीय चेतना का तनाव निरंतर बढ़ता ही चला जा रहा है, साईंस या तकनीक के क्षेत्र में होने वाली कोई भी खोज उसे हलका नहीं कर पा रही। इक्का-दुक्का क्षेत्रों में कुछ व्यक्तिगत प्रयत्नों के बावजूद मानवीय चेतना आज भी लोभ या भय के ही आधार पर टिकी है, अपनी सारी गतिविधियों के लिए वहीं से ऊर्जा लेती है, धर्म या साईंस का कोई भी प्रापेगंडा उसे बदल नहीं पाया है, और यही संसार है और यही हमारा जीवन है।

राजेश जी का कहना था कि जब कोई सरमाएदार यह देख लेता है कि जिस धंधे में उसने अपनी पूंजी लगाई है वो तो डूबने वाला है, तो वह झट से वहां से अपना सरमाया निकाल लेता है। तो फिर क्या बात है कि हम ये सारी बातें करते हुए भी अपने

जीवन की पूंजी उन्हीं दिशाओं में लगाए चले जा रहे हैं, जिनसे यह माजूदा संकट निकला है—वही भय, वही लोभ आज भी हमारे स्व का आधार बना हुआ है, क्यों हम उसे छोड़ नहीं पा रहे। कुछ लोगों का यह कहना था कि इसके लिए तो बहुत बड़ी हिम्मत की ज़रूरत होगी। लेकिन विजय जी का कहना था कि हिम्मत नहीं, ज़रूरत है तो साफ-साफ देखने की। राजेश दलाल का कहना था कि जब जीते-जी हमसे कोई हमारी आंखें मांगता है तो इनकार के लिए किसी हिम्मत की ज़रूरत नहीं पड़ती, क्योंकि उस खतरे को स्पष्टता से देख सकते हैं। क्या ऐसी ही स्पष्टता हम अपने संबंधों में ला सकते हैं, क्या है जो इस तरह साफ-साफ देख पाने की राह में बाधा बनता है, उसे देखने की शुरूआत ही शायद ध्यान की शुरूआत है, जिसके बिना हमारे संबंधों में आया यह तनाव—संसार पर छाया संकट जिसकी प्रतिध्वनि है—संभवतया कभी कम नहीं हो सकता।

पटियाला के राजेश जी और बलराम जी के सौजन्य से यह कार्यक्रम संभव हो पाया।

२. वैज्ञानिक और धार्मिक मन

(२६-३० दिसंबर २०११)

बीते जाड़े की सर्द हवाओं, आते-जाते कोहरे और कुनकुनाती धूप में मुक्त आकाश के नीचे अपने मन की परतों को खोलते-देखते-परखते उस पर विचार चर्चा कर, इसके पूरे क्रिया कलाप को समझने का अवसर मिला।

चार दिन के इस शिविर में डलहौजी यूनिवर्सिटी, हैलीफैक्स (कनाडा) के प्रो. रवि रविन्द्र मुख्य वक्ता बने। प्रो. रविन्द्र भौतिकी व धर्मशास्त्र के प्रवक्ता रहे हैं और इनके इन विषयों पर शोधपत्र भी प्रकाशित हुए हैं।

इस रिट्रीट/अध्ययन अवकाश में प्रो. रविन्द्र ने बताया कि विज्ञान धर्म का ही अंग है। और दोनों एक-दूसरे से जुदा नहीं हैं। क्योंकि दोनों का ही कार्य मनुष्य को वास्तविकता तक ले जाना है। वास्तविकता 'जो है' उसे देखने में सहायता करना।

विभिन्न समूहों में प्रतिभागियों ने भागीदारी की और पूरे कार्यक्रम के दौरान विषय के प्रति गंभीरतापूर्वक अवलोकन व अन्वेषण करते दिखे। प्रश्नोत्तर, संवाद के कई सत्र और व्यक्तिगत वार्तालाप के माध्यम से मन के पूरे प्रारूप को देखने व समझने का प्रयास होता रहा। प्रथम दिवस उपरांत दूसरे व तीसरे दिन स्लाइड शो के द्वारा भी इस मन और मानवीय चेतना को समझने का प्रयास हुआ। क्या व्यक्तिगत चेतना और मानवीय चेतना में कहीं कोई भेद है। हम जो कुछ भी कर रहे हैं वह हमारे आसपास क्या बदलाव ला रहा है, क्या हम इसके प्रति जागरूक हैं? जीवन में मृत्यु का क्या स्थान है? क्या इस देह के साथ चेतना भी समाप्त हो जाती है? फिर इस चेतना का क्या होता है? विज्ञान व धर्म का जीवन में क्या तात्पर्य है? हमें इनकी आवश्यकता क्यों है? क्या भौतिक विज्ञान हमें चीजों को सही-सही देखने में मदद कर रहा है या वह केवल नोबल पुरस्कार पाने का माध्यम बन गया है? जो कुछ भी हमारे आसपास घटित हो रहा है उससे हमारे तन व मन पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, क्या हम इसका अध्ययन कर रहे हैं? हम स्वयं भी इस दुनिया में कैसे जी रहे हैं? ऐसे तमाम प्रश्नों के साथ गहन वार्तालाप, संवाद हुए और अंतिम दिन प्रश्नोत्तर में यह बात खुलकर सामने आई कि हम स्वयं भी इस पूरी अव्यवस्था को जीते आ रहे हैं। इसीलिये यह सब आज भी हमारे सामने है। हमें ही अपने जीने के ढंग को बदलना होगा न कि सिर्फ इस वार्तालाप या इन शिविर सत्रों से संतुष्ट हो घर चले जाना।

३. मिरर ऑफ रिलेशनशिप

गत माह (मार्च २०१२) के. एफ. आई. राजघाट, वाराणसी में चार दिवसीय रिट्रीट का आयोजन किया गया जिसका विषय “मिरर ऑफ रिलेशनशिप” था।

इस रिट्रीट में संवाद, समूह वार्तालाप-चर्चा, वीडियो आदि के माध्यम से संबंधों में टकराहट के कारणों, स्वयं की जीवन शैली, व्यक्तिगत व बाहरी प्रभावों से ग्रस्त होने के कारण जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों आदि बिंदुओं पर चर्चा हुई।

कृष्णमूर्ति अध्ययन कार्यशाला

३० सितंबर से ३ अक्टूबर २०१२

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर, राजघाट, वाराणसी में ३० सितंबर से ३ अक्टूबर २०१२ तक एक अध्ययन कार्यशाला का आयोजन किया जा रहा है। इस कार्यशाला का विषय है : अपने दैनिक जीवन का अन्वेषण (Enquiry into our daily living)। क्या हम अपने दैनिक जीवन का गहन निरीक्षण करते हुए उसमें एक मौलिक आंतरिक परिवर्तन ला सकते हैं जिसकी ओर कृष्णमूर्ति बार-बार इशारा करते हैं? इसी अहम प्रश्न को लेकर इस चार दिवसीय अध्ययन कार्यशाला का आयोजन किया जा रहा है।

कॉपीराइट सूचना

जे. कृष्णमूर्ति के उद्धरण अंतर्राष्ट्रीय कॉपीराइट नियम के अंतर्गत संरक्षित हैं तथा सर्वाधिकारी की लिखित पूर्वानुमति के बिना किसी भी रूप में पुनः प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। सन् १९६८ के पूर्व की कृष्णमूर्ति की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ऑफ अमेरिका, ओहायो, कैलीफोर्निया का है। सन् १९६८ के बाद की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ट्रस्ट, ब्रॉकवुड पार्क, इंग्लैंड का है।

हिन्दी में उपलब्ध कृष्णमूर्ति साहित्य

कृष्णमूर्ति की परिचयात्मक पुस्तकें :

१. ज्ञात से मुक्ति	रु. ५०.००
२. हिंसा से परे	रु. ८०.००
३. गरुड़ की उड़ान	रु. ७०.००
४. प्रथम और अन्तिम मुक्ति (सजिल्द द्विभाषी संस्करण)	रु. ५००.००
५. प्रथम और अन्तिम मुक्ति (पेपरबैक)	रु. १७५.००
६. आमूल क्रान्ति की आवश्यकता	रु. १००.००
७. अन्तिम वार्ताएँ	रु. ७०.००
८. आपको अपने जीवन में क्या करना है	रु. १७५.००

शिक्षा संबंधी पुस्तकें :

१. शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य	रु. ६०.००
२. शिक्षा संवाद	रु. ८०.००
३. स्कूलों के नाम पत्र	रु. ६०.००
४. स्कूलों को पत्र भाग-२	रु. ४०.००
५. शिक्षा क्या है?	रु. १७५.००
६. संस्कृति का प्रश्न	रु. ५०.००

कृष्णमूर्ति का स्वयं का लेखन :

१. जीवन भाष्य-I	रु. ७०.००
२. जीवन भाष्य-II	रु. १२०.००
३. जीवन भाष्य-III	रु. १४०.००

थीम बुक्स :

१. जीवन और मृत्यु	रु. १२५.००
२. ईश्वर क्या है?	रु. १२५.००
३. ध्यान	रु. १२५.००
४. सोच क्या है?	रु. १२५.००

पुस्तिकाएँ :

५. मृत्यु और उसके बाद	रु. ४०.००
६. वाशिंगटन वार्ताएँ	रु. २५.००
७. सुखी वही जो कुछ नहीं है	रु. ४०.००
८. सीखने की कला	रु. १५.००
९. आन्तरिक प्रस्फुटन	रु. १०.००
१०. जीवन की पुस्तक	रु. १०.००
११. प्रेम : स्वयं से एक संलाप	रु. १०.००
१२. सत्य एक पथहीन भूमि है	रु. १०.००
१३. स्वतंत्रता, उत्तरदायित्व एवं अनुशासन	रु. १०.००
१४. ध्यान में मन	रु. १०.००

हिन्दी डी.वी.डी.

“बुनियादी बदलाव : एक चुनौती”	रु. १००.००
------------------------------	------------

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी-२२१००१

ईमेल: kcentrevns@gmail.com फोन: ०५४२-२४४१२८६

‘कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया’ के लिए प्रकाशक, मुद्रक प्रो. पी. कृष्णा द्वारा सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस, एस-१/२०८ के-१, नयी बस्ती, पांडेयपुर, वाराणसी २२१ ००२ से मुद्रित एवं कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी २२१ ००१ (उ.प्र.) से प्रकाशित।

संपादक : विजय छाबड़ा